१

# संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति और संस्कार एक ही धातु से निष्पन्न शब्द हैं। संस्कृति का अर्थ है—संस्कार और संस्कार का अर्थ है—संस्कृति। संस्कृति शब्द की एकान्त आग्रह के रूप में कोई एक व्याख्या और एक परिभाषा नहीं की जा सकती। संस्कृति उस सुन्दर सरिता के समान है, जो अपने स्वतंत्र स्वभाव से निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। यदि सरिता के प्रवाह को बाँध दिया जाए, तो फिर सरिता, सरिता न रह जाएगी। इसी प्रकार संस्कृति को और उस संस्कृति को, जो जन-मन के जीवन में घुल-मिल चुकी है, शब्दों की सीमा में बाँधना, राष्ट्र की परिधि में बाँधना और समाज के बन्धनों में बाँधना कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। संस्कृति की सरिता को किसी भी प्रकार की सीमा में सीमित करना, मानव-मन की एक बड़ी भूल है। संस्कृति के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारक मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है—"विश्व के सर्वोच्च कथनों और विचारों का ज्ञान ही सच्ची संस्कृति है।"[१] महान् विचारक बोबी के कथनानुसार संस्कृति दो प्रकार की होती है—परिमित संस्कृति और अपरिमित संस्कृति। बोबी का कथन है—"परिमित संस्कृति शृंगार एवं विलासिता की ओर भावित होती है। जबकि अपरिमित संस्कृति सरलता एवं संयम की ओर प्रवाहित होती है।"[२] यहाँ पर संस्कृति के सन्दर्भ में एक बात और विचारणीय है। और वह यह है, कि क्या संस्कृति और सभ्यता दोनों एक हैं, अथवा भिन्न-भिन्न हैं? इस सम्बन्ध में श्रीप्रकाशजी ने बहुत सुन्दर कहा है—"सभ्यता शरीर है, और संस्कृति आत्मा। सभ्यता जानकारी और विभिन्न क्षेत्रों की महान् एवं विराट् खोज का परिणाम है, जबकि संस्कृति विशुद्ध ज्ञान का परिणाम है।"[३] इसके अतिरिक्त जिसे हम सच्ची संस्कृति कहते हैं, उसका एक आध्यात्मिक पहलू भी है। इसके सम्बन्ध में महान् विचारक मार्डेन ने कहा है—"स्वभाव की गम्भीरता, मन की ममता, संस्कृति के अन्तिम पृष्ठों में से एक है और यह समस्त विश्व को वश में करने वाली शक्ति में पूर्ण विश्वास से उत्पन्न होती है।"[४] इस कथन का अभिप्राय यह है, कि आत्मा की अजरता और अमरता में अटल विश्वास होना ही, वास्तविक संस्कृति है। संस्कृति के सम्बन्ध में भारत के महान् चिन्तक सानेगुरु का कथन है कि—"जो संस्कृति महान् होती है, वह दूसरों की संस्कृति को भय नहीं देती, बल्कि उसे साथ लेकर पवित्रता देती है। गंगा की गरिमा इसी में है कि दूसरे प्रवाहों को अपने में मिला लेती है और इसी कारण वह पवित्र, स्वच्छ एवं आदरणीय कही जा सकती है। लोक में वही संस्कृति आदर के योग्य है, जो विभिन्न धाराओं को साथ में लेकर अग्रसर होती रहती है।'

1. Culture is to now the best that has been said and thought in the world.
2. Partial Culture runs to the arnote. exterme culture to simplicity.
3. While civilization is the body, culture is the soul, while civilization is the result of knowledge and great painful researches in divers field, culture is the result of wisdom.
4. Serenity of spirit, poise of mind, is one of the last Lesson of culture and comes from a perfect trust in the all controlling force of univers.


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## संस्कृति का सही अर्थ :

आज संसार में सर्वत्र संस्कृति की चर्चा है। सभा में, सम्मेलनों में और उत्सवों में सर्वत्र ही आज संस्कृति का बोलबाला है। सामान्य व्यक्ति से लेकर, विशिष्ट विद्वान् तक आज संस्कृति पर बोलते और लिखते हैं, परन्तु संस्कृति की परिभाषा एवं व्याख्या आज तक भी स्थिर नहीं हो सकी है। संस्कृति क्या है ? विद्वानों ने विभिन्न पद्धतियों से इस पर विचार किया है। आज भी विचार चल ही रहा है। संस्कृति की सरिता के प्रवाह को शब्दों की सीमा रेखा में बाँधने का प्रयत्न तो बहुत किया गया है, पर उसमें सफलता नहीं मिल सकी है। भारत के प्राचीन साहित्य में धर्म, दर्शन और कला की जो चर्चा है वह संस्कृति की ही चर्चा है। आज के जन-जीवन में और आज के साहित्य में तो सर्वत्र संस्कृति ही मुखर हो रही है। उसने अपने आप में धर्म, दर्शन और कला तीनों को समेट लिया है। मैं पूछता हूँ आपसे कि संस्कृति में क्या नहीं है ? उसमें आचार की पवित्रता है, विचार की गम्भीरता है और कला की प्रियता एवं सुन्दरता है। अपनी इसी अर्थव्यापकता के आधार पर संस्कृति ने धर्म, दर्शन और कला—तीनों को आत्मसात् कर लिया है। जहाँ संस्कृति है, वहाँ धर्म होगा ही। जहाँ संस्कृति है, वहाँ दर्शन होगा ही। जहाँ संस्कृति है, वहाँ कला होगी ही। भारत के अध्यात्म-साहित्य में संस्कृति से बढ़कर अन्य कोई शब्द व्यापक, विशाल और बहु अर्थ का अभिव्यंजक नहीं है। कुछ विद्वान् संस्कृति के पर्यायवाची रूप में परिष्कार और सुधार आदि शब्दों का भी प्रयोग करते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है। वस्तुतः संस्कृति की पवित्रता को धारण करने की सामर्थ्य इन शब्दों में से किसी में भी नहीं है। अधिक से अधिक खींचातानी करके, परिष्कार एवं सुधार शब्द से आचार का ग्रहण तो कदाचित् किया भी जा सके, परन्तु विचार और कला की अभिव्यक्ति इन शब्दों से कथमपि नहीं हो सकती। एक संस्कृति शब्द से ही धर्म, दर्शन और कला—तीनों की अभिव्यक्ति की जा सकती है।

## संस्कृति एवं सभ्यता :

संस्कृति एक बहती धारा है। जिस प्रकार सरिता का प्राण-तत्त्व है, उसका प्रवाह। ठीक उसी प्रकार संस्कृति का प्राणतत्त्व भी उसका सतत प्रवाह है। संस्कृति का अर्थ है निरन्तर विकास की ओर बढ़ना। संस्कृति विचार, आदर्श और भावना तथा संस्कार-प्रवाह का वह संगठित एवं सुस्थिर संस्थान है, जो मानव को अपने पूर्वजों से सहज ही अधिगत हो जाता है। व्यापक अर्थ में संस्कृति को भौतिक और आध्यात्मिक—इन दो भागों में बाँटा जा सकता है। भौतिक संस्कृति को सभ्यता भी कहते हैं। इसमें भवन, वसन, वाहन एवं यन्त्र आदि वह समस्त भौतिक सामग्री आ जाती है, जिसका समाज ने अपने श्रम से निर्माण किया है। कला का सम्बन्ध इसी भौतिक संस्कृति से है। आध्यात्मिक संस्कृति में आचार-विचार और विज्ञान का समावेश किया जाता है। संस्कृति का अर्थ संस्कार भी किया जाता है। संस्कार के दो प्रकार हैं—एक वैयक्तिक, जिसमें मनुष्य अपने गुण से एवं अपनी शिष्टता से चमकता है। दूसरा सामूहिक, जो समाज विरोधी दूषित आचार का प्रतिकार करता है। समान आचार, समान विचार, समान विश्वास, समान भाषा और समान पथ—ये सभी मिलकर संस्कृति को एकता प्रदान करते हैं।

संस्कृति मानव के भूत, वर्तमान और भावी-जीवन का सर्वांगीण चित्रण है। जीवन जीने की कला अथवा पद्धति को संस्कृति कहते हैं। संस्कृति आकाश में नहीं, इसी धरती पर रहती है। वह कल्पना मात्र नहीं है, जीवन का ठोस सत्य है एवं जीवन का प्राणभूत तत्त्व है। मानवीय जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है। संस्कृति में विकास और परिवर्तन सदा होता आया है। जीवन के 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का सर्जन एवं संमूर्तन मनुष्य के मन, प्राण और देह के प्रबल एवं दीर्घकालिक प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ है। मनुष्य-जीवन कभी गतिहीन नहीं होता, पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह आगे बढ़ता रहता है। धर्म, दर्शन, साहित्य और कला—ये सब मनुष्य जीवन के विकास के सुफल हैं। इस दृष्टि से संस्कृति मानवीय जीवन



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रयत्न की उपलब्धि है। संस्कृति में जब निष्ठा पक्की होती है, तब मन की परिधि भी विस्तृत हो जाती है, उदारता का भण्डार भी भर जाता है। अतः संस्कृति जीवन के लिए परमावश्यक है। संस्कृति, राजनीति और अर्थशास्त्र—दोनों को अपने में समन्वित कर विस्तृत एवं विराट् मनस्तत्त्व को जन्म देती है। इसी को भारतीय संस्कृति में अर्थ और काम का सुन्दर समन्वय कहा गया है। संस्कृति जीवन-वृक्ष का सम्वर्द्धन करने वाला रस है। यदि राजनीति और अर्थशास्त्र जीवन पथ की साधना है, तो संस्कृति उस पथ का साध्य है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का सम्वर्द्धन बिना संस्कृति के नहीं हो सकता।

## संस्कृति : साधना की सर्वोत्तम परिणति :

संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम एवं सर्वश्रेष्ठ परिणति कही जा सकती है। संस्कृति मानव-जीवन का एक अविनाभावी तत्त्व है। वह समस्त विरोधों में सामंजस्य स्थापित करती है। नाना प्रकार की धर्म-साधना, कलात्मक प्रयत्न, योग-मूलक अनुभूति और अपनी तर्क-मूलक कल्पना-शक्ति से मनुष्य उस महान् सत्य के व्यापक तथा परिपूर्ण स्वरूप को अधिगत करता है, जिसे हम संस्कृति कहते हैं। बावजूद इसके, मैं कहूँगा कि संस्कृति की सर्वसम्मत परिभाषा अभी तक नहीं बन सकी है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और विचार के अनुसार इसका अर्थ कर लेता है। संस्कृति का अर्थ है—मनुष्य की जय-यात्रा। मनुष्य अपनी साधना के बल पर विकृति से संस्कृति और संस्कृति से प्रकृति की ओर निरन्तर गतिशील रहता है। जीवन में विकृति है, इसीलिए संस्कृति की आवश्यकता है। परन्तु संस्कृति को पाकर ही मनुष्य की जययात्रा समाप्त नहीं हो जाती। उससे आगे बढ़कर प्रकृति को, अपने स्वभाव को प्राप्त करना होगा। यहाँ संस्कृति का अर्थ है—आत्मशोधन। संस्कृति के ये विविध रूप और नाना अर्थ आज के साहित्य में उपलब्ध होते हैं। संस्कृति एक विशाल महासागर है।

## भारतीय संस्कृति की आत्मा : समन्वय :

भारतीय संस्कृति की विशेषता उसके आचार-पूत स्वतन्त्र चिन्तन में, सत्य की शोध में और उदार व्यवहार में रही है। युद्ध जैसे दारुण अवसर पर भी यहाँ के चिन्तकों ने शान्ति की सीख दी है। वैर के बदले प्रेम, क्रूरता के बदले मृदुता और हिंसा के बदले अहिंसा दी है। भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा है—विरोध में भी अनुरोध, विविधता में भी समन्वय-बुद्धि तथा एक सामञ्जस्य दृष्टिकोण। भारतीय संस्कृति हृदय और बुद्धि की पूजा करने वाली उदारपूर्ण भावना और विमल परिज्ञान के योग से जीवन में सरसता और मधुरता बरसाने वाली है। यह संस्कृति ज्ञान का कर्म के साथ और कर्म का ज्ञान के साथ मेल बैठाकर संसार में मधुरता का प्रचार तथा सरसता का प्रसार करने वाली है। भारतीय संस्कृति का अर्थ है—विश्वास, विचार और आचार की जीती-जागती महिमा। भारत की संस्कृति का अर्थ है—स्नेह, सहानुभुति, सहयोग, सहकार और सह-अस्तित्व। इस संस्कृति का संलक्ष्य है—असत् से सत् की ओर जाना, अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना, भेद से अभेद की ओर जाना तथा कीचड़ से कमल की ओर जाना, असुन्दर से सुन्दर की ओर जाना और अविवेक से विवेक की ओर जाना। भारत की संस्कृति का अर्थ है—राम की पवित्र मर्यादा, कृष्ण का तेजस्वी कर्मयोग, महावीर की सर्वभूत हितकारी अहिंसा, त्याग एवं विरोधों की समन्वय-भूमि अनेकान्त, बुद्ध की मधुर करुणा एवं विवेक-युक्त वैराग्य और महात्मा गांधी की धर्मानुप्राणित राजनीति एवं सत्य का प्रयोग। अतः भारतीय संस्कृति के सूत्रधार हैं—राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गांधी। यह भारतीय संस्कृति की सम्पूर्णता है।

## भारतीय संस्कृति की त्रिवेणी :

भारत की संस्कृति का मूल स्रोत है—**"दयतां, दीयतां, दाम्यताम्"** इस एक ही सूत्र में समग्र भारत की संस्कृति का सार आ गया है। जहाँ दया, दान और दमन है, वहीं पर



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारत की संस्कृति की मूल आत्मा है। भारत के जन-जन की और भारत के मन-मन की संस्कृति का मूल आधार है—दया, दान और दमन। प्राण-प्राण के प्रति दया करो, मुक्त भाव से दान करो और अपने मन के विकल्पों का दमन करो। भारत के जन-जन के मन-मन में दया, दान एवं दमन का ऊर्जस्वी भाव भरा है। वेदों ने इसी को गाया, पिटकों ने इसी को ध्याया और आगमों ने इसी को जन-जीवन के कण-कण में रमाया। क्रूरता से मनुष्यता को सुख नहीं मिला, तब दया जागी। संग्रह में मनुष्य को शान्ति नहीं मिली, तब दान आया। भोग में मनुष्य को चैन नहीं मिला, तब दमन आया। विकृत जीवन को संस्कृत बानाने के लिए भारतीय संस्कृति के भण्डार में दया, दान और दमन से बढ़कर, अन्य कोई धरोहर नहीं है, अन्य कोई सम्पत्ति नहीं है। अपने मूल रूप में भारत की संस्कृति एक होकर भी धारा रूप में वह अनेक है। वेद-मार्ग से बहने वाली धारा वैदिक संस्कृति है। पिटक मार्ग से बहने वाली धारा बौद्ध संस्कृति है। आगम मार्ग से बहने वाली धारा जैन संस्कृति है। भारत की संस्कृति मूल में एक होकर भी वेद, जिन और बुद्ध रूप में वह त्रिधाराओं में प्रवाहित है। वेद दान का, बुद्ध दया का और जिन दमन का प्रतीक है। अपने मनोविकारों को दमित करने वाला विजेता ही जिन होता है और जिन-देव की संस्कृति ही वस्तुतः आत्म-विजेता की संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण स्वरूप को समझने के लिए और उसकी सम्पूर्ण सीमा का अंकन करने के लिए, उसे दो भागों में विभक्त करना होगा—ब्राह्मण की संस्कृति और श्रमण की संस्कृति। ब्राह्मण और श्रमण ने युग-युग से भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व किया है और किसी न किसी रूप में वह आज भी करता है। ब्राह्मण विस्तार का प्रतीक है और श्रमण शम, श्रम और सम का प्रतीक माना जाता है। जो अपना विस्तार करता है, वह ब्राह्मण है और जो शान्ति, तपस्या तथा समत्वयोग का साधक है, वह श्रमण है। श्रम और साधना दोनों का एक ही अर्थ है। प्रत्येक साधना श्रम है और प्रत्येक श्रम साधना है—यदि उसमें मन का पवित्र रस उँडेल दिया गया हो। ब्राह्मण-संस्कृति विस्तारवादी संस्कृति है, वह सर्वत्र फैल जाना चाहती है, जब कि श्रमण-संस्कृति अपने को संयमित करती है। जहाँ विस्तार है, वहाँ भोग है। जहाँ सीमा है, वहाँ त्याग है। इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मण-संस्कृति भोग पर आधारित है और श्रमण-संस्कृति त्याग पर। मेरे विचार में भारतीय समाज को यथोचित भोग और यथोचित त्याग दोनों की आवश्यकता है। क्योंकि शरीर के लिए भोग की आवश्यकता है और आत्मा के लिए त्याग की। भोग और योग का यथार्थ विकासमूलक संतुलन एवं सामञ्जस्य ही भारतीय संस्कृति का मूल रूप है। भारत के ब्राह्मण ने ऊँचे स्वर में शरीर की आवश्यकताओं पर अधिक बल दिया। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि ब्राह्मण-संस्कृति प्रवृत्तिवादी है और श्रमण-संस्कृति निवृत्तिवादी है। प्रवृत्ति और निवृत्ति मानवीय जीवन के दो समान पक्ष है। जबतक साधक, साधक अवस्था में है, तबतक उसे शुभ प्रवृत्ति की आवश्यकता रहती है, किन्तु जब साधक अपनी साधना के द्वारा साध्य की चरम कोटि को छू लेता है, तब उसके जीवन में निवृत्ति स्वतः ही आ जाती है। अशुभ से शुभ और अन्ततः शुभ से शुद्ध पर पहुँचना ही संस्कृति का चरम परिपाक है। मेरे विचार में भारतीय समाज को स्वस्थता प्रदान करने के लिए ब्राह्मण और श्रमण दोनों की आवश्यकता रही है और अनन्त भविष्य में भी दोनों की आवश्यकता रहेगी। आवश्यकता है, केवल दोनों के दृष्टिकोण में सन्तुलन स्थापित करने की और समन्वय साधने की।

## भारतीय संस्कृति का स्वरूप :

भारत के जन-जीवन की संस्कृति का रूप सामासिक एवं सामूहिक रहा है और उसका विकास भी धीरे-धीरे हुआ है। इतिहास के कुछ विद्वान यह भी दावा करते हैं कि भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ आर्यों के आगमन के साथ हुआ था। किन्तु यह विचार समीचीन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जिन्होंने 'हड़प्पा' और 'मोहनजोदड़ो' की सभ्यता और संस्कृति



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अध्ययन किया है, वे इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि तथाकथित एवं तथा प्रचारित आर्यों के आगमन से पूर्व भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति बहुत ऊँची उठ चुकी थी। हाँ, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आर्यों के यहाँ आने के बाद और उनके यहाँ स्थापित हो जाने के बाद आर्यों और द्रविड़ों के मिलन, मिश्रण और समन्वय से जिस समवेत संस्कृति का जन्म हुआ था, वस्तुतः वही भारत की प्राचीनतम संस्कृति और कुछ अर्थ में मूल संस्कृति भी कही जा सकती है। यह स्मरणीय है कि हमारी राष्ट्रिय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना वर्तमान आकार ग्रहण किया है, जिसमें भारत के मूल निवासी द्रविड़ों, आर्यों, शक एवं हूणों तथा मुसलमान और ईसाइयों का धीरे-धीरे योग-दान मिलता रहा है। यह बात तो सत्य है कि भारत की प्राचीन संस्कृति में समन्वय करने की तथा नये उपकरणों को पचाकर आत्मसात् करने की अद्भुत योग्यता थी। जबतक इसका यह गुण सक्रिय रहा, तब तक यह संस्कृति जीवित और गतिशील रही, लेकिन बाद में परिस्थिति ने कुछ ऐसा मोड़ लिया कि इसकी गतिशीलता स्थिरता में परिणत हो गई। स्थिरता भी आगे चलकर रूढ़िवादिता में परिणत हो गई। काफी लम्बे इतिहास के अन्तराल में भूगोल ने भारत को जो रूप दिया, उससे वह एक ऐसा विशाल देश बन गया, जिसके दरवाजे बाहर की ओर से बन्द थे। क्योंकि महासागर और महाशैल हिमालय से घिरा होने के कारण बाहर से किसी का इस देश में आना आसान नहीं था। फिर भी जो कुछ लोग साहस करके यहाँ पर आए, वे यहीं के होकर रह गए। उदाहरण के लिए, सीथियन और हूण लोग तथा उनके बाद भारत में आने वाली कुछ अन्य जातियों के लोग यहाँ आकर राजपूत जाति की शाखाओं में घुल-मिल गए और यह दावा करने लगे कि हम भी प्राचीन भारत की सन्तान हैं। भारत की संस्कृति, जन-जन की संस्कृति रही है और इसीलिए वह सदा से उदार और सहिष्णु रही है। यहाँ पर सब का समादर होता रहा है।

जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह आदि से अन्त तक न तो आर्यों की रचना है और न केवल द्रविड़ों का ही प्रयत्न है। बल्कि उसके भीतर अनेक जातियों का अंशदान है। यह संस्कृति रसायन की प्रक्रिया से तैयार हुई है और उसके अन्दर अनेक औषधियों का रस समाहित है। भारत में समन्वय की प्रक्रिया चींटियों की प्रक्रिया नहीं, जो अनाज के कणों को एक स्थान पर एकत्रित कर देती हैं। इस प्रकार का समन्वय वास्तविक समन्वय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अनेक अनाजों के अनगिनत दाने एक बर्तन में एकत्रित किए जाने पर भी अलग-अलग गिने और पहचाने जा सकते हैं। चींटियाँ अनाज के कणों को एकत्रित तो कर देती हैं, किन्तु उनका एक-दूसरे में विलय नहीं कर पातीं। भारतीय संस्कृति मधुमक्खियों की प्रक्रिया जैसी रही है। मधुमक्खियाँ अनेक वर्णों के फूलों से विभिन्न प्रकार का रस एकत्रित करके मधु के रूप में उसे एक ऐसा स्वरूप देती हैं कि कोई भी फूल वहाँ सबसे ऊपर नहीं बोलता। भारतीय संस्कृति, अनेक संस्कृतियों के योग से हुआ वह मधु है, जिसमें विभिन्न वर्णों के पुष्पों का योगदान रहा है, साथ ही सबका सामान्यीकरण भी होता रहा है।

### भारत की सांस्कृतिक एकता :

भारत की यह सांस्कृतिक एकता, मुख्यतः दो कारणों पर आधारित है—पहला कारण तो भारत का भूगोल है, जिसने उत्तर और पूर्व की ओर पहाड़ों से तथा दक्षिण और पश्चिम की ओर समुद्रों से घेर कर भारत को स्वतन्त्र भू-भाग का रूप दे दिया है। दूसरा कारण, इस एकता का एक प्रमुख कारण भारतीय जनता का उदार दृष्टिकोण भी है, जो किसी भी विश्वास के लिए दुराग्रह नहीं करता, जो सहिष्णुता, स्वाधीन चिन्तन एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता का संसार में बड़ा समर्थक रहा है। यही कारण है कि भारत के विशाल मैदानों में सभी प्रकार के धर्मों को पनपने का समान अवसर मिला है। यहाँ पर कट्टर ईश्वरवादी धर्म भी पनपा है और परम नास्तिक चार्वाक जैसा दर्शन भी पल्लवित हुआ है। भारत में साकार की उपासना



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने वाले भी रहे हैं और साथ ही निराकार के उपासक भी। धर्म के विकास के लिए और अपने-अपने विचार का प्रचार करने के लिए कुछ अपवादों को छोड़ कर भारत में कभी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहा है। यहाँ पर साधक एवं उपासक को इतनी स्वतन्त्रता रही है कि वह अपने आदर्श के अनुसार चाहे किसी एक देवता को माने, अथवा अनेक देवताओं को माने। भारत में वेद का समर्थन करने वाले भी हुए हैं और वेद का घोर विरोध करने वाले भी हुए हैं। भारत की धरती पर मन्दिर, मस्जिद और चर्च तीनों का सुन्दर समन्वय हुआ है। मेरे विचार में इस एकता और समन्वय का कारण भारतीय दृष्टिकोण की उदारता एवं सहिष्णुता ही है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति एक ऐसी संस्कृति है, जिसमें अधिक से अधिक संस्कृतियों का रंग मिला हुआ है, अतः वह अधिक से अधिक विभिन्न धर्मों एवं जातियों की मानसिक एवं आध्यात्मिक एकता का प्रतिनिधित्व कर सकती है।

आज के नवीन विश्व को यदि भारत से कुछ पाना है, तो वह प्राचीन भारत से ही प्राप्त कर सकता है। प्राचीन भारत के उपनिषद्, आगम और त्रिपिटक आज भी इस राह भूली दुनिया को बहुत कुछ प्रकाश दे सकते हैं। आज के विश्व की पीड़ाओं का समाधान आध्यात्मिक भावना में हैं। अभिनव मनुष्य अतिभोगी हो गया है। वह अपनी रोटी दूसरों के साथ बांट कर नहीं खाना चाहता। उसे हर हालत में पूरी रोटी चाहिए, भले ही उसे भूख आधी रोटी की ही क्यों न हो। उक्त भोग-वृत्ति का शमन उदार त्याग-वृत्ति में है, जो भारतीय संस्कृति का मूल-प्राण है।

मेरा अपना विचार यह है कि भारतीय संस्कृति में जो रूढ़िवादिता आ गई है, यदि उसे दूर किया जाए, तो भारत के पास आज भी दूसरों को देने के लिए बहुत-कुछ शेष है। विश्व की भावी एकता की भूमिका, भारत की सामासिक संस्कृति ही हो सकती है। जिस प्रकार भारत ने किसी भी धर्म का दलन किए बिना, अपने यहाँ धार्मिक एकता स्थापित की, जिस प्रकार भारत ने किसी भी जाति की विशेषता नष्ट किए बिना, सभी जातियों को एक संस्कृति के सूत्र में आबद्ध किया, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति के उदार विचार इतने विराट् एवं विशाल रहे हैं कि उसमें संसार के सभी विचारों का समाहित हो जाना असम्भव नहीं है। ऋषभदेव से लेकर राम तक और राम से लेकर वर्तमान में गांधी-युग तक भारतीय संस्कृति सतत गतिशील रही है। यह ठीक है कि बीच-बीच में उसमें कहीं रुकावटें भी अवश्य आती रही हैं, किन्तु वे रुकावटें उसके गन्तव्य पथ को बदल नहीं सकीं। रुकावट आ जाना एक अलग बात है और पथ को छोड़कर भटक जाना एक अलग बात है।

हजारों और लाखों वर्षों की इस भारत की प्राचीन संस्कृति में वह कौन तत्त्व है, जो इसे अनुप्राणित और अनुप्रेरित करता रहा है? मेरे विचार में, कोई ऐसा तत्त्व अवश्य होना चाहिए, जो युग-युग में विभिन्न धाराओं को मोड़ देकर उसकी एक विशाल और विराट् धारा बनाता रहा हो। प्रत्येक संस्कृति का और प्रत्येक सभ्यता का अपना एक प्राण-तत्त्व होता है, जिसके आधार पर वह संस्कृति और सभ्यता तन कर खड़ी रहती है और संसार के विनाशक तत्त्वों को चुनौती देती रहती है। रोम और मिश्र की संस्कृतियाँ धूलिसात् हो चुकी हैं, जबकि वे संस्कृतियाँ भी उतनी ही प्राचीन थीं, जितनी कि भारत की संस्कृति।

## भारतीय संस्कृति का प्राण-तत्त्व :

भारत की संस्कृति का मूल-तत्त्व अथवा प्राण-तत्त्व है---अहिंसा और अनेकान्त, समता और समन्वय। वस्तुतः विभिन्न संस्कृतियों के बीच सात्विक समन्वय का काम अहिंसा और अनेकान्त के बिना नहीं चल सकता। तलवार के बल पर हम मनुष्य को नष्ट तो कर सकते हैं, पर उसे जीत नहीं सकते। असल में मनुष्य को सही रूप में जीतना, उसके हृदय पर अधिकार पाना है; तो उसका शाश्वत उपाय समर-भूमि की रक्त-धारा से लाल कीचड़ नहीं, सहिष्णुता का शीतल प्रदेश ही हो सकता है। आज से ही नहीं, अनन्तकाल से भारत अहिंसा और अनेकान्त की साधना में लीन रहा है। अहिंसा और अनेकान्त को समता और समन्वय



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी कहा जा सकता है। अहिंसा और अनेकान्त पर किसी सम्प्रदायविशेष का लेबिल नहीं लगाया जा सकता। ये दोनों तत्त्व भारतीय संस्कृति के कण-कण में रम चुके हैं और भारत के कोटिशः लोगों के अंतर्मन में प्रवेश पा चुके हैं। भले ही कुछ लोगों ने यह समझ लिया हो कि अहिंसा और अनेकान्त, जैन धर्म के सिद्धान्त हैं। बात वस्तुतः यह है कि सिद्धान्त सदा अमर होते हैं, न वे कभी जन्म लेते हैं और न वे कभी मरते हैं। अहिंसा और अनेकान्त को श्रमण भगवान् महावीर ने जन-चेतना के समक्ष प्रस्तुत किया एवं प्रकट किया, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह जैन धर्म के ही सिद्धान्त हैं, बल्कि सत्य यह है कि वे भारत के और भारतीय संस्कृति के अमर सिद्धान्त हैं। क्योंकि भगवान् महावीर और जैन धर्म अभारतीय नहीं थे। यह बात अलग है कि भारत की अहिंसा-साधना जैन धर्म में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची और जैन धर्म के समन्वयात्मक विचार का उच्चतम शिखर—अनेकान्तवाद—अहिंसा का ही चरम विकास है। अनेकान्तवाद नाम यद्यपि जैनाचार्यों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, किन्तु जिस स्वस्थ दृष्टिकोण की ओर यह सिद्धान्त संकेत करता है, वह दृष्टिकोण भारत में आदिकाल से ही विद्यमान था।

## भारतीय संस्कृति में अहिंसा एवं अनेकान्त :

सहिष्णुता, उदारता, सामासिक संस्कृति, अनेकान्तवाद, समन्वयवाद, अहिंसा और समता—ये सब एक ही तत्त्व के अलग-अलग नाम हैं। अनेकान्तवादी वह है, जो दुराग्रह नहीं करता। अनेकान्तवादी वह है, जो दूसरों के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवादी वह है, जो अपने सिद्धान्तों को भी निष्पक्षता के साथ परखता है। अनेकान्तवादी वह है, जो समझौते को अपमान की वस्तु नहीं मानता। सम्राट् अशोक, सम्राट् खारवेल और सम्राट् हर्षवर्धन बौद्धिक दृष्टि से अहिंसावादी और अनेकान्तवादी ही थे, जिन्होंने एक सम्प्रदाय विशेष में रहकर भी सभी धर्मों की समान भाव से सेवा की। इसी प्रकार मध्ययुग में सम्राट् अकबर भी निष्पक्ष सत्यशोधक के नाते अनेकान्तवादी था, क्योंकि परम सत्य के अनुसन्धान के लिए उसने आजीवन प्रयत्न किया था। परमहंस रामकृष्ण सम्प्रदायातीत दृष्टि से अनेकान्तवादी थे, क्योंकि हिन्दू होते हुए भी सत्य के अनुसन्धान के लिए उन्होंने इस्लाम और ईसाई मत की भी साधना की थी। और गान्धीजी का तो एक प्रकार से सारा जीवन ही अहिंसा और अनेकान्त के महापथ का यात्री रहा है। मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि अहिंसा और अनेकान्त के बिना तथा समता और समन्वय के बिना भारतीय संस्कृति चिरकाल तक खड़ी नहीं रह सकती। जन-जन के जीवन को पावन बनाने के लिए, समता और समन्वय की बड़ी आवश्यकता है। विरोधों का परिहार करना तथा विरोध में से भी विनोद निकाल लेना, इसी को समन्वय कहा जाता है। समन्वय मात्र बौद्धिक सिद्धान्त नहीं है, वह तो मनुष्यों की इस जीवन भारती का जीता-जागता रचनात्मक सिद्धान्त है। समता का अर्थ है—स्नेह, सहानुभूति और सद्भाव। भला, इस समता के बिना मानव-जाति कैसे सुखी और समृद्ध हो सकती है? परस्पर की कटुता और कठोरता को दूर करने के लिए, समता की बड़ी आवश्यकता है।

## संस्कृति और सभ्यता : एक मौलिक विवेचन :

संस्कृति के स्वरूप तथा उसके मूल तत्त्वों के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा चुका है। अब एक प्रश्न और है, जिस पर विचार करना आवश्यक है, और वह प्रश्न यह है कि क्या संस्कृति और सभ्यता एक है अथवा भिन्न-भिन्न दो दृष्टिकोण? संस्कृति और सभ्यता शब्दों का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। पाश्चात्य विद्वान् टाइलर का कथन है कि—सभ्यता और संस्कृति एक-दूसरे के पर्याय हैं। वह संस्कृति के लिए सभ्यता और परम्परा शब्द का प्रयोग भी करता है। इसके विपरीत प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी संस्कृति शब्द का प्रयोग करना पसन्द नहीं करता। उसने सभ्यता शब्द का प्रयोग ही पसन्द किया है। एक दूसरे



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्वान् का कथन है कि—"सभ्यता किसी संस्कृति की चरम अवस्था होती है। प्रत्येक संस्कृति की अपनी एक सभ्यता होती है। सभ्यता संस्कृति की अनिवार्य परिणति है। यदि संस्कृति विस्तार है, तो सभ्यता कठोर स्थिरता।" संस्कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं तथ्य-मूलक अनुसन्धान (anthropology) मानव-विज्ञान शास्त्र में हुआ है। संस्कृति की सबसे पुरानी और व्यापक परिभाषा टायलर की है, जो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में दी गई थी। टायलर की, संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार है—"संस्कृति अथवा सभ्यता एक वह जटिल तत्त्व है, जिसमें ज्ञान, नीति, न्याय, विधान, परम्परा और दूसरी उन योग्यताओं और आदतों का समावेश है, जिन्हें मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है।" मेरे विचार में, सभ्यता और संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं—एक भीतर का और दूसरा बाहर का। संस्कृति और सभ्यता बहुत कुछ उसी भावना को अभिव्यक्त करती हैं, जिसे विचार और आचार कहते हैं। जीवन का स्थूल रूप यदि सभ्यता है, तो उसका सूक्ष्म-आंतरिक रूप संस्कृति है।

## संस्कृति का आधार :

मनुष्य की प्रतिष्ठा का मूल आधार, उसका अपना मनुष्यत्व ही माना गया है। चरित्र, त्याग, सेवा और प्रेम—इसी आधार पर मानव की महत्ता तथा प्रतिष्ठा का महल खड़ा किया गया है। पर, आज लगता है—मनुष्य स्वयं इन आधारों पर विश्वास नहीं कर रहा है। अपनी प्रतिष्ठा को चार चाँद लगाने के लिए, उसकी दृष्टि भौतिक साधनों पर जा रही है, वह धन, सत्ता और नाम के आधार पर अपनी प्रतिष्ठा का नया प्रासाद खड़ा करना चाह रहा है। आज महत्ता के लिए एकमात्र भौतिक-विभूति को ही आधार मान लिया गया है।

आज समाज और राज्य ने प्रतिष्ठा का आधार बदल दिया है, मनुष्य के दृष्टिकोण को बदल दिया है। आज की संस्कृति और सभ्यता धन और सत्ता पर केन्द्रित हो गई है। इसलिए मनुष्य की प्रतिष्ठा का आधार भी धन और सत्ता बन गए हैं। धन और सत्ता बदलती रहती है, हस्तान्तरित होती रहती है, इसलिए प्रतिष्ठा भी बदलती रहती है। आज जिसके पास सोने का अम्बार लगा है, या कहना चाहिए, नोटों का ढेर लगा है, जिसके हाथ में सत्ता है, शासन है, वह यदि चारित्रहीन और दुराचारी भी होगा, तो भी उसे सम्मान और प्रतिष्ठा मिलती रहेगी, समाज उसकी जय-जयकार करता रहेगा, सैकड़ों लोग उसकी कुर्सी की परिक्रमा करते रहेंगे। चूंकि सारी प्रतिष्ठा उसकी तिजोरी में बन्द हो गई है या कुर्सी के चारों पैरों के नीचे दुबकी बैठी है। संस्कृति के ये आधार न तो स्थायी हैं और न सही ही है।

धन और सत्ता के आधार पर प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा कभी स्थायी नहीं होती। वह इन्द्रधनुष की तरह एकबार अपनी रंगीन छटा से संसार को मुग्ध भले ही कर दे, किन्तु कुछ काल के बाद उसका कोई अस्तित्व आसमान और धरती के किसी कोने में नहीं मिल पाता। यदि धन को स्थायी प्रतिष्ठा मिली होती, तो आज संसार में धनकुबेरों के मन्दिर बने मिलते। उनकी पूजा होती रहती। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और रावण जैसों की मालाएँ फेरी जाती, जरासन्ध और दुर्योधन को संसार आदर्श पुरुष मानता। जिनकी सोने की नगरी थी, जिनके पास अपार शक्ति थी, सत्ता थी, अपने युग में उन्हें प्रतिष्ठा भी मिली थी, ख्याति भी मिली थी। पर याद रखिए, प्रतिष्ठा और ख्याति मिलना दूसरी बात है—श्रद्धा मिलना कुछ और बात है। जनश्रद्धा उसे मिलती है जिसके पास यथार्थ सत्य एवं चारित्र होता है। ख्याति, प्रशंसा और प्रतिष्ठा क्रूरता से भी मिल सकती है, मिली भी है, पर युग के साथ उनकी ख्याति के बुलबुले समाप्त हो गए, उनकी प्रतिष्ठा आज खंडहरों में सोयी पड़ी है।

मनुष्य के मन की यह सबसे बड़ी दुर्बलता है कि वह इस बाह्य प्रतिष्ठा के बहाव में अन्धा होकर बहता चला जा रहा है।



Jain Education International          For Private & Personal Use Only          www.jainelibrary.org

## सिंहासन की होड़ :

मैं देखता हूँ, सिंहासनों की होड़ में मनुष्य अंधा होकर चला है। सम्राट् अजातशत्रु बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी सम्राट् हो गया है। युवावस्था में प्रवेश करते ही उसकी महत्वाकांक्षाएँ सुरसा की भाँति विराट् रूप धारण कर लेती हैं। सोचता है—"बाप बूढ़ा हो गया है। चलता-चलता जीवन के किनारे पहुँच गया है। अभी तक तो सिंहासन मुझे कभी का मिल जाना चाहिए था। मैं अभी युवक हूं, भुजाओं में भी बल है। बुढ़ापे में साम्राज्य मिलेगा, तो क्या लाभ? कैसे राज्य विस्तार कर सकूँगा? कैसे साम्राज्य का आनन्द उठा सकूँगा?" बस, वह राज्य के लिए बाप को मारने की योजना बनाता है। सिंहासन के सामने पिता के जीवन का कोई मूल्य नहीं रह जाता है।

मगध सम्राट् श्रेणिक बूढ़ा हो गया है, पर मरना तो किसी के हाथ की बात नहीं। संन्यास ले सकता था, किन्तु अन्त तक उसने गृहस्थाश्रम का त्याग किया नहीं। कभी-कभी सोचा करता हूँ कि भारत की यह पुरानी परम्परा कितनी महत्त्वपूर्ण थी कि बुढ़ापा आने लगा, शरीर अक्षम होने लगा, तो नई पीढ़ी के लिए मार्ग खोल दिया—"आओ! अब तुम इसे संभालो, हम जाते हैं।" और संसार त्याग कर के चल दिए। महाकवि कालिदास ने रघुवंशी राजाओं का वर्णन करते हुए यही कहा है—

> "शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां, यौवने विषयैषिणाम्।
> वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।"

रघुकुल के प्रबुद्ध राजा बचपन में विद्याओं का अभ्यास करते थे, शास्त्र-विद्या सीखते थे और शस्त्र-विद्या भी। यौवन की चहल-पहल हुई तो विवाह करते, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते, न्याय और नीति के आधार पर प्रजा का पालन करते। जब जवानी ढलने लगती, बुढ़ापे की छाया आने लगती, तो यह नहीं कि राज सिंहासन से चिपटे रहें, भोगों में फँसे रहे। राज सिंहासन अपने उत्तराधिकारी को सौंपा और मुनिवृत्ति स्वीकार करके साधना पथ पर चल पड़े। गृह और राज्य से मुक्त होना मात्र उनका कोई ध्येय नहीं था। उस निवृत्ति में आत्म-रमणता और जन-कल्याण की सत्-प्रवृति भी निहित थी।

## त्याग की संस्कृति :

जिनके जीवन में प्रतिष्ठा और महत्ता का आधार त्याग, चारित्र एवं प्रेम रहा है, वे चाहे राजसिंहासन पर रहे या जंगल में रहे, जनता के दिलों में बसे रहे हैं, जनता उन्हें श्रद्धा से सिर झुकाती रही है। भारतीय संस्कृति में जनक का उदाहरण हमारे सामने है। जनक के जीवन का आधार साम्राज्य या वैभव नहीं रहा है, बल्कि त्याग, तप, न्यायनिष्ठा और जनता की सेवा रहा है, इसीलिए वे जनता के पूज्य बन पाए। जनता ने उनका नाम भी 'जनक' अर्थात् पिता रख दिया, जबकि वह उसका पारिवारिक नाम नहीं था। वे राजमहलों में रहे फिर भी उनका जीवन-दर्शन जनता के प्रेम में था, प्रजा की भलाई में था। वह वास्तव में ही प्रजा का जनक अर्थात् पिता था।

हमारी संस्कृति धन, ऐश्वर्य या सत्ता की प्रतिष्ठा में विश्वास नहीं करती है। हमारे यहाँ महल और बँगलों में रहने वाले महान् नहीं माने गए हैं। रेशमी और बहुमूल्य वस्त्र पहनने वालों का आदर नहीं हुआ है, बल्कि अकिंचन भिक्षुओं की प्रतिष्ठा रही है। झोंपड़ी और जंगल में रहने वालों की पूजा हुई है और बिल्कुल सादे, जीर्ण-शीर्ण वस्त्र पहनने वालों पर जनता उत्सर्ग होती रही है।

स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका में गए, तो एक साधारण संन्यासी की वेशभूषा में ही गए। लोगों ने उनसे कहा—"यह अमेरिका है, संसार की उच्च सभ्यता वाला देश है, आप जरा ठीक से कपड़े पहनिए।"



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेकानन्द ने इसके उत्तर में कहा—"ठीक है, आपके यहाँ की संस्कृति दर्जियों की संस्कृति रही है, इसलिए आप उन्हीं के आधार पर वस्त्रों की काटछांट एवं बनावट के आधार पर ही सभ्यता का मूल्यांकन करते हैं। किन्तु जिस देश में मैंने जन्म लिया है, वहाँ की संस्कृति मनुष्य के निर्मल चारित्र एवं उच्च आदर्शों पर आधारित है। वहाँ जीवन में बाहरी तड़क-भड़क और दिखावे की प्रतिष्ठा नहीं है, बल्कि सादगी और सच्चाई की प्रतिष्ठा है।"

उपनिषद् में एक कथा आती है—एक बार कुछ ऋषि एक देश की सीमा के बाहर-बाहर से कहीं दूर जा रहे थे। सम्राट् को मालूम हुआ तो वह आया और पूछा—"आप मेरे जनपद को छोड़कर क्यों जा रहे हैं? मेरे देश में ऐसा क्या दोष है?

**"न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यपः,**
**नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, न स्वैरी स्वैरिणी कुतः?"**

मेरे देश में कोई चोर-उचक्के नहीं हैं, कोई दुष्ट या कृपण मनुष्य नहीं रहते हैं, शराबी, चारित्रहीन, मूर्ख-अनपढ़ भी मेरे देश में नहीं है, तो फिर क्या कारण है कि आप मेरे देश को यों ही छोड़कर आगे जा रहे हैं?"

मैं देखता हूँ, भारतीय राष्ट्र की यही सच्ची तस्वीर है, जो उस युग में प्रतिष्ठा और सम्मान के रूप में देखी जाती थी। जिस देश और राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता इतनी महान् होती है, उसी की प्रतिष्ठा और महत्ता के मानदंड संसार में सदा आदर्श उपस्थित करते हैं। यही संस्कृति वह संस्कृति है, जो गरीबी और अमीरी दोनों में सदा प्रकाश देती है। महलों और झोंपड़ियों में निरन्तर प्रसन्नता बाँटती रहती है, आनन्द उछालती रहती है। जिस जीवन में इस संस्कृति के अंकुर पल्लवित-पुष्पित होते हैं, होते रहे हैं, वह जीवन संसार का आदर्श जीवन है, महान् जीवन है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org